शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

वैशाख : २४८० वर्ष दसवाँ अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अपूर्व भावना

हे भाई! तू भावना तो स्वभाव की कर! स्वभाव की भावना करने के लिये प्रथम यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय कर। यथार्थ वस्तु को पहिचाने बिना मिथ्यात्वादिक भावों को ही अनादिकाल से भाया है, किन्तु चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि भावों का सेवन करे तो अल्पकाल में मोक्ष हुए बिना न रहे। परम चैतन्यस्वभाव की भावना से जो सम्यग्दर्शनादि पवित्र भाव प्रगट हों, वे ही धर्म और कल्याणरूप हैं।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१०९]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

वांकानेर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर

पू. गुरुदेव के मंगलहस्त से

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब

(१)	श्री वर्द्धमान भगवान (मूलनायक)	वांकानेर
(२)	श्री पार्श्वनाथ भगवान	वांकानेर
(३)	श्री आदिनाथ भगवान	वांकानेर
(४)	श्री सीमंधर भगवान	वांकानेर
(५)	श्री नेमिनाथ भगवान (विधिनायक)	वांकानेर
(६)	श्री नेमिनाथ भगवान	जोरावरनगर
(७)	श्री जिनेन्द्र भगवान	जसदण
(८)	श्री शांतिनाथ भगवान	किसनगढ़
(९)	श्री शांतिनाथ भगवान	बम्बई
(१०)	श्री पार्श्वनाथ भगवान	बोटाद

आत्मधर्म

वैशाख : २४८० वर्ष दसवाँ अंक पहला

अहो ! अपने पुनीत प्रभाव द्वारा जिन्होंने अनेक मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में प्रेरित किया है... और भ्रष्ट तथा अन्य अनेक जीवों को वात्सल्य पूर्वक पुनः सनमार्ग में दृढ़रूप से स्थापित किया है—ऐसे इन त्रिकाल मंगलस्वरूप पवित्र आत्मा परम पूज्य गुरुदेव की पुनीत शरण में रहकर अपूर्व आत्मकल्याण की उपासना करते हुए मुमुक्षुजनों के हृदय आनंद से अति उल्लसित होते हैं और उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

हे कृपानिधि, पूज्य गुरुदेव ! आप आत्मार्थी जीवों के हृदय के आराम और जीवन के आधार हो... घोर अंधकार में भटकते हुए अनेक जिज्ञासु जीवों को कल्याण-मार्ग की पगडंडी आपके ही पुनीत प्रताप से प्राप्त हुई है... हम मुमुक्षुओं के जीवन में आपका महान उपकार है... सर्व मंगल प्रसंगों में आपका ही महान उपकार है... आप हमारे आत्मोद्धारक हैं... इसलिये हमारे अंतर में से ध्वनि उठती है कि :—

''स्वस्ति श्री सद्गुरवे''

'चैतन्यभानु का उदय'

[वैशाख शुक्ला २]

(१) आज, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(२) सूर्य उदित होकर रात्रि के अंधकार का नाश करे, उससे पूर्व तो अज्ञान अंधकार का नाश करनेवाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(३) भव्यजीवों के संसार-समुद्र को सुखा देनेवाले उग्र चैतन्यभानु का उदय हुआ....

(४) अज्ञान-अंधकार में भटकनेवाले जीवों को मुक्तिमार्ग के प्रकाशक चैतन्यभानु का उदय हुआ....

(५) जैन शासनरूपी आकाश में एक जगमगाते हुए चैतन्यभानु का उदय हुआ....

हे साधर्मी बंधुओं.....!

(१) चलो! उस चैतन्यभानु की दिव्य किरणों को झेलकर आत्म-कमल को विकसाएँ....

(२) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य तेज को झेलकर अज्ञान-अंधकार को मिटाएँ....

(३) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य प्रताप को झेलकर भवसमुद्र को सुखा दें....

(४) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य प्रकाश में मुक्तिमार्ग पर गमन करें.....

(५) चलो! उस चैतन्यभानु से जैनशासन को दीप्त करें.....

प....ह....ले

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतां रागने द्वेष हा! हा।
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती पुण्य ने पाप गाथा।
जिज्ञासुने शरणस्थल क्यां? तत्वनी वात क्यां छे?
पूछे कोने पथ पथिक ज्यां आंधला सर्व पासे।'

अब.....

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतो शुद्ध आत्मा ज आहा!
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती शुद्ध आत्मानी वार्ता।
जिज्ञासुने शरणस्थल ह्यां; तत्त्वनी वात ह्यां छे,
पूछे आवी पथपथिक सौ ज्ञानीओ छे ज पासे।'

★

'जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप का कथन करने योग्य नहीं है; और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना दूसरा कोई कल्याण का उपाय नहीं है; उस पुरुष से आत्मा जाने बिना 'आत्मा जाना है'—ऐसी कल्पना मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।'

'आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत; सद्गुरु लक्षण योग्य।'

....परम श्रुत....

'सदा दृष्टि तारी विमल निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्ति मांहि दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालम्बी भावे परिणति स्वरूपे जई भले,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मले।'

....अपूर्व वाणी....

'अहो! वाणी तारी प्रशम रस भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्च्छा विषतणी त्वरायी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दौड़े परिणति।'

जो जीव आत्मार्थी हो, वह क्या करता है ?

'सेवे सद्गुरु चरण ने, त्यागी दई निजपक्षः
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष।'
'प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकारः
त्रणे योग एकत्वथी वर्ते आज्ञाधार।'
'अहो, अहो! श्री सद्गुरु, करुणासिंधु अपार,
आ पामर पर प्रभु कियो अहो! अहो! उपकार।'
'शुं प्रभु चरण कने धरूँ, आत्माथी सौ हीन;
ते तो प्रभुने आपियो वर्तुं चरणाधीन।'
'देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत;
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणित।'

'जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा, मरण का नाश करनेवाला स्व-स्वरूप में सहज अवस्थान होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा का नित्यप्रति निरंतर स्तवन करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है, ऐसे सर्व सत्पुरुष, उनके चरणारविंद सदैव हृदय में स्थापित रहें।'

पाव घंटा

[आत्मार्थी जीव प्रतिदिन स्वाध्याय-मनन अवश्य करें]

आत्महित के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय और मनन करना चाहिए। जिसे आत्मा की लगन लगी हो, वह स्वाध्याय और मनन के बिना एक दिन भी नहीं चला सकता। जिसप्रकार व्यसनी मनुष्य का अपनी व्यसन की वस्तु के बिना एक दिन भी नहीं चल सकता; उसीप्रकार आत्मार्थी जीव को आत्मा के स्वाध्याय-मनन का व्यसन लग जाता है। जैसे हो वैसे सद्गुरु के साक्षात् सत्समागम में रहकर आत्मा का श्रवण-मनन करना चाहिए; और जब सद्गुरु के साक्षात् सत्समागम का योग न बन सके, उस समय उसकी अज्ञानुसार शास्त्र-पठन और मंथन करना चाहिए। ''प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र।'' प्रत्यक्ष सद्गुरु के योग में रहकर श्रवण-मनन करना, वह सुपात्र जीवों को आधाररूप है। श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्यों में स्वाध्याय को भी एक कर्तव्य माना है। प्रतिदिन नये-नये प्रकार के पठन-मनन से आत्मार्थी जीव अपने ज्ञान की निर्मलता बढ़ाता जाता है। चाहे जैसे संयोग में और चाहे जैसी प्रवृत्ति में पड़ा हो, तथापि प्रतिदिन चौबीस घंटे में से घंटे-दो घंटे का समय तो स्वाध्याय-मनन में लगाना ही चाहिए; अरे! अन्तिम से अन्तिम—कम से कम पाव घंटा तो प्रतिदिन निवृत्ति लेकर एकान्त में शांतिपूर्वक आत्मा की स्वाध्याय और विचार तो करना ही चाहिए। प्रतिदिन पाव घंटा पठन-मंथन में व्यतीत करे तो भी महीने में साढ़े सात घंटे होते हैं; तथा प्रतिदिन सत् स्वाध्याय-मनन करने से अंतर में उसके संस्कार सदा बने रहते हैं और दृढ़ता होती जाती है। यदि स्वाध्याय-मनन बिलकुल छोड़ दे तो उसके संस्कार भी छूट जायेंगे। निवृत्ति लेकर आत्मा का विचार करने के लिये भी जिसे अवकाश नहीं है, तो फिर विकल्प तोड़कर आत्मा के अनुभव का अवसर उसे कहाँ से प्राप्त होगा? इसलिये आत्मार्थी जीवों को चाहे जैसे क्षेत्र में या प्रवृत्ति में भी निरंतर अमुक समय तो अवश्य ही सत् की स्वाध्याय और मनन करना चाहिए। ''मैं तो जगत से भिन्न हूँ, मेरा जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है, जगत के किसी भी कार्य का भार मुझ पर नहीं है; मैं तो असंग चैतन्यतत्त्व हूँ''—इसप्रकार निवृत्त होकर घड़ी-दो घड़ी भी आत्मा का चिंतन-मनन करना चाहिए। सत्पुरुषों की वाणी का अंतर में बारबार चिंतन-मनन करना अनुभव का उपाय है।

[—रात्रिचर्चा से]

उपादान की योग्यता

[उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश]

समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अनंतकाल से नहीं जमी है, और पराश्रय को मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है, उस जीव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से कथन आता है; वहाँ अज्ञानी निमित्त के और व्यवहार के कथन को ही पकड़ लेता है; परन्तु उस कथन का परमार्थ आशय क्या है, उसे वह नहीं समझता। क्या किया जाये! स्वयं अंतर में पात्र होकर वस्तुस्थिति समझे तो समझ में आये; उसकी पात्रता के बिना ज्ञानी क्या करें? उसकी अपनी पात्रता के बिना साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी उसे नहीं समझा सकते। उपादान की योग्यता के बिना दूसरा क्या करे? उपादान में योग्यता हो तो दूसरे में निमित्तरूप उपचार आता है।

अहो! जहाँ देखो वहाँ उपादान की विधि का एक ही प्रकार है। अमुक समय अमुक प्रकार की पर्याय क्यों हुई?—तो कहते हैं कि ऐसी ही उस उपादान की योग्यता। सम्यग्दर्शन क्यों हुआ?—तो कहते कि पर्याय की वैसी योग्यता से। इसप्रकार उपादान निरवचन है अर्थात् उसमें एक ही प्रकार है, एक ही उत्तर है, 'ऐसा क्यों?'—तो कहते हैं—'ऐसी ही उपादान की योग्यता।'

यह मुख्य ध्यान रखना चाहिए कि—'उपादान की योग्यता'— ऐसा जो बारम्बार कहा जाता है, वह त्रिकाली शक्तिरूप नहीं है, परन्तु एक समय की पर्यायरूप है; प्रतिसमय की पर्याय में अपनी स्वतंत्र शक्ति है, उसे उपादान की योग्यता कही जाती है। समय-समय की पर्याय के स्वतंत्र उपादान की लोगों को खबर नहीं है, इसलिये निमित्त आये तो पर्याय हो—ऐसा भ्रम से मानते हैं; उसमें अकेली संयोगी-पराधीन दृष्टि है। एक-एक समय की पर्याय का स्वतंत्र उपादान!—उसका निर्णय करने में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। वस्तुस्वरूप ही यह है; परन्तु इस समय तो लोगों को यह बात कठिन हो रही है।

उपादान की योग्यता कहो, पर्याय की शक्ति कहो, अवस्था की योग्यता कहो, स्वकाल कहो, काललब्धि कहो, अपना उत्पाद कहो, अपना अंश कहो, क्रमबद्धपर्याय कहो, नियत कहो

या उसप्रकार का पुरुषार्थ कहो—यह सब एक ही हैं; इन में से यदि एक भी बोल का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सब आ जाता है। निमित्त के कारण कुछ परिवर्तन या विलक्षणता हो—यह बात तो कहीं रहती ही नहीं।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से निमित्त से कथन आता है, परन्तु वहाँ सर्वत्र उपादान की स्वतंत्रता को दृष्टि में रखकर उस कथन का आशय समझना चाहिए। मूल दृष्टि ही जहाँ विपरीत हो, वहाँ शास्त्रों के अर्थ भी विपरीत ही भासित होते हैं। कुछ लोग बड़े त्यागी या विद्वान माने जाते हों, तथापि उपादान-निमित्त संबंधी उन्हें भी विपरीत दृष्टि होती है; उनके साथ इस बात का मेल नहीं बैठ सकता। यथार्थ तत्त्व की दृष्टि बिना लोगों ने यों ही त्याग की गाड़ियाँ हाँक दी हैं। अरे, तत्त्वनिर्णय की दरकार भी नहीं करते! परन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना सच्चा त्याग नहीं होता, इसलिये वह त्याग भी भाररूप है।

उपादान की विधि निरवचन कही, उसका अर्थ यह है कि उसमें एक ही प्रकार है; जितने प्रश्न पूछो, उन सबका एक ही उत्तर है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ-वहाँ उपादान की योग्यता से ही होता है; निमित्त मात्र अपनी योग्यता से उपस्थित रहते हैं।

—ज्ञानावरण के कारण ज्ञान अटका ?—नहीं; अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान अटका है।

—गुरु के कारण ज्ञान हुआ ?—नहीं; अपनी योग्यता से ही ज्ञान हुआ है।

—कुंभार ने घड़ा बनाया ?—नहीं; मिट्टी की योग्यता से ही घड़ा बना है।

—अग्नि से पानी गर्म हुआ ?—नहीं; अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है।

—आटे में से स्त्री ने रोटी बनाई ?—नहीं; आटे की योग्यता से ही रोटी बनी है।

— कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ है ?—नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण ही विकार हुआ है।

—इसप्रकार सर्वत्र एक ही उत्तर है कि उपादान की वैसी योग्यता से ही कार्य होता है। निमित्त भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के भले हों; परन्तु उन निमित्तों ने उपादान में कुछ नहीं किया है, और निमित्त तथा उपादान एकत्रित होकर कोई एक तीसरी अवस्था होती है—ऐसा नहीं है। उपादान की अवस्था पृथक् और निमित्त की अवस्था पृथक्। निमित्त के कारण उपादान में कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उपादान में उसका अभाव है। समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अनंतकाल से नहीं जमी है, और पराधीनता मानकर भटक

रहे हैं। उपादान की स्वाधीनता का जिसे निर्णय नहीं है, उसमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार उपादान में निमित्त का अभाव है, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव की अभेददृष्टि में सारा व्यवहार अभूतार्थ है; शुद्धदृष्टि का विषय एकाकार शुद्ध आत्मा है, उसमें भेद या राग नहीं है। जिसप्रकार उपादान में 'पर्याय की योग्यता'—ऐसा एक ही प्रकार है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन में 'आत्मा के अभेदस्वभाव का आश्रय'—ऐसा एक ही प्रकार है। देव-गुरु-शास्त्रादि परनिमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है—यह बात तो दूर रही, परन्तु अपने आत्मा में गुण-गुणी के भेद करके आत्मा को लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेद के आश्रय से अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, अथवा मैं अनंत गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा हूँ'—इसप्रकार शुभ विकल्प करके उस विकल्परूप व्यवहार का ही जो अनुभवन करता है, परन्तु विकल्प तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभवन नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। सम्यक्त्वी को वैसा विकल्प आता है, परन्तु उसकी दृष्टि अपने भूतार्थस्वभाव पर है, विकल्प और स्वभाव के बीच उसे भेद हो गया है; भूतार्थस्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि (-निर्विकल्प प्रतीति) उसके सदैव प्रवर्तमान रहती है। देखो, यह धर्मात्मा की अन्तर्दृष्टि! ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना किसी के धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। *(—मानस्तंभ-प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचन से)*

आत्मा की समझ

सर्व प्रथम सत्समागम से आत्मा की सच्ची समझ करना, वह भव-भ्रमण से छूटने का कारण है। अनंतकाल में जीव ने सबकुछ किया है परन्तु आत्मा की सत्य प्रतीति कभी नहीं की। आत्मा की सच्ची समझ अपूर्व है। यदि एक समय भी आत्मा को पहिचाने तो मुक्ति का मार्ग हुए बिना न रहे। आज समझे... कल समझे या दो-चार भव के बाद समझे... परन्तु आत्मा को समझने पर ही भव का अन्त हो सकता है, आत्मा को समझे बिना कभी भव का अन्त नहीं आयेगा। —प्रवचन से

साधक के आँगन में मोक्ष का मंडप
और
सिद्धों की स्थापना

[अपूर्व सम्यग्दर्शन की रीति]

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय, चैत्र शुक्ला १ के दिन दोपहर के प्रवचन से]

सिद्धदशा की साधना के लिये निकले हुए साधक जीव अपने मोक्ष के मण्डप में भगवान को उतारते हुए कहते हैं कि—हे सिद्ध भगवान! मेरे आत्मा में विराजो!.... मैं अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ... द्रव्यदृष्टि से जिसने अपने आत्मा को सिद्धसमान प्रतीति में लिया, उसी ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की... उसके आँगन में मोक्ष का मण्डप लग गया... अब अल्पकाल में उसे सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी!

* * * *

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व-अचिंत्य-महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मंडप लग गया, उसके आत्मा में सिद्ध भगवान के संदेश आ गये... उसे अनंतभव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई और अल्पकाल में मुक्ति होने का नि:शंक विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व-परम-अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने का क्या उपाय है, वह इस लेख में पढ़े!

यह भगवान की प्रतिष्ठा का महोत्सव है। आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना करके ही आचार्यदेव ने समयसार का प्रारम्भ किया है। जिसप्रकार पुत्र के विवाहोत्सव प्रसंग पर बारात में बड़े-बड़े श्रीमंतों को साथ रखता है कि जिससे पुत्रवधू को लिये बिना वापिस न आना पड़े। उसीप्रकार यहाँ साधक जीव अपने मोक्ष के मण्डप में भगवान को उतारता है। सिद्धदशा की साधना के लिये निकले हुए साधक कहते हैं कि हे सिद्ध भगवान! मेरे आत्मा में विराजो; मैं अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ। आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की, इसलिये अब मेरी सिद्धदशा लौट नहीं सकती, अल्पकाल में वह दशा प्रगट होकर ही रहेगी। जिसने अपने आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना की, वह जीव व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं मानता, किन्तु सिद्ध जैसे

अपने भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करके मोक्ष का महोत्सव मनाने की यह बात है। वास्तव में द्रव्यदृष्टि के बिना आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना नहीं होती। पर्यायदृष्टि से देखें तो आत्मा में विकार है; उस विकार की दृष्टि छोड़कर, द्रव्यदृष्टि से जिसने अपने आत्मा को सिद्ध-समान प्रतीति में लिया, उसी ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की... उसके आँगन में मोक्ष का मण्डप लग गया... अब अल्पकाल में उसे सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

देखो, यह पंचकल्याणक का महान महोत्सव है और सम्यग्दर्शन की अपूर्व बात आई है। सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का प्रारम्भ कैसे होता है? चौथा गुणस्थान कैसे प्रगट होता है?—उसकी यह बात है। आत्मा के भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा का धर्म, शरीर-मन-वाणी में, मकान में या तीर्थक्षेत्र के पर्वत पर नहीं है, धर्म तो जीव की अपनी पर्याय में है; और जीव का अधर्म भी बाह्य में नहीं है, अधर्म भी अपनी पर्याय में है। जो जीव अपने चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर पर से धर्म मानता है, उसके पर्याय में मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप अधर्म है। वह अधर्म दूर करके धर्म प्रगट करना चाहता है। यह धर्म होने की शक्ति वस्तु में है। आत्मा के स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म होता है। यदि वस्तु में धर्म होने की शक्ति न हो तो वह कहाँ से आयेगा? जिसे सम्यग्दर्शन की—शांति की—आनन्द की—धर्म की आवश्यकता हो, उसे कहाँ देखना चाहिए? सुख-शांति का धाम कहाँ है?—शरीरादि पर में तो शांति या सुख नहीं है, राग में भी सुख या शांति नहीं है; जो सम्यग्दर्शन और शांति प्रगट करना चाहता हो, उसकी वर्तमान पर्याय में सम्यग्दर्शन-शांति नहीं है; पर्याय का आश्रय करने से भी सुख या शांति नहीं होते; परन्तु आत्मा में ध्रुव चैतन्यस्वभाव में सुख-शांति का सामर्थ्य है; उस भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही वर्तमान पर्याय में सुख-शांति-सम्यग्दर्शन-धर्म होते हैं। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण है, इसलिये उसी का आश्रय करने योग्य है; व्यवहार तो अभूतार्थ है; इसलिये वह आश्रय करने योग्य नहीं है—उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता। अभेद वस्तु का प्रतिपादन करते हुए बीच में भेद आता अवश्य है, परन्तु वह भेदरूप व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है। अपने में अभेद स्वभाव का अवलम्बन करते हुए भेद का विकल्प आता अवश्य है, किन्तु वह आश्रय करने योग्य नहीं है; भेद या विकल्प के अवलम्बन में रुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होता—अभेदरूप भूतार्थ स्वभाव की सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन होता है।

अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहार के आश्रय से धर्म मानते हैं; उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे मूढ़! व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं है; तेरा एकरूप चैतन्यस्वभाव भूतार्थ है, उसकी दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है, इसलिये भूतार्थस्वभाव ही आश्रय करने योग्य है—ऐसा तू समझ! व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का परमार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता, शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा के परमार्थ स्वरूप को जानना, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन कतकफल के स्थान पर है, यह बात दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे – पानी और कीचड़ एकमेक हों, वहाँ मूर्ख लोग तो कीचड़ और पानी के विवेक बिना उस पानी को गंदा मानकर मैले पानी का ही अनुभव करते हैं, और पानी के स्वच्छ स्वभाव को जाननेवाले कुछ विवेकीजन अपने हाथ से उस पानी को कतकफल डालकर पानी और कादव के विवेक द्वारा निर्मल जल का अनुभव करते हैं।—इसप्रकार पानी का दृष्टान्त है। उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में प्रबल कर्मों के संयोग से मलिनता हुई है; वहाँ जिन्हें आत्मा के शुद्ध स्वभाव और विकार के बीच का भेदज्ञान नहीं है—ऐसे अज्ञानी जीव तो आत्मा का मलिनतारूप ही अनुभव करते हैं। उन्हें यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि हे जीव! यह तो मलिनता दिखाई देती है, वह तो क्षणिक अभूतार्थ है; वह तेरा नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है; तेरा असली-भूतार्थस्वभाव तो शुद्ध चैतन्यरूप है, उसे तू शुद्धनय द्वारा देख; शुद्धनय द्वारा अपने आत्मा को कर्म और विकार से पृथक् जान। संयोगी दृष्टि से न देखकर शुद्धनय का अवलंबन लेकर आत्मा के भूतार्थस्वभाव की पवित्रता का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। "**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**"—अर्थात् भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है,—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का महान सिद्धान्त बतलाया है।

आत्मा के परमार्थ शुद्ध स्वभाव पर तो अज्ञानी की दृष्टि नहीं है, इसलिये कर्म के संयोग की और अशुद्धता की दृष्टि करने से उसकी दृष्टि में अपना ज्ञायक एकाकार स्वभाव तिरोभूत हो गया है—ढँक गया है; कर्मों ने नहीं ढँका परन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से वह ढँक गया है। अज्ञानी जीव अंतर में अपने ज्ञायकस्वभाव को तो नहीं देखता और कर्म को ही देखता है, उसे 'पुद्गल कर्म के प्रदेश में स्थित' कहा है। कर्म के कारण विकार हुआ—ऐसा जो मानता है, अथवा तो आत्मा का मात्र विकारीरूप से ही अनुभव करता है किन्तु शुद्धरूप से अनुभवन नहीं करता, वह भी पुद्गल-कर्म में ही स्थित है, उसकी दृष्टि आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हुई है।

ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञान को रोका है—यह निमित्त का कथन है; वास्तव में कर्म ने ज्ञान को नहीं रोका है, परन्तु ज्ञानपर्याय अपनी योग्यता से हीन परिणमित हुई है और उसमें ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है—ऐसा बतलाने के लिये गोम्मटसार आदि में निमित्त से कथन किया है। यदि वास्तव में जड़कर्म को जीव की पर्याय का कर्ता मानें तो वह ईश्वर को जगत्-कर्ता मानने जैसा ही हुआ। जिसप्रकार ईश्वर जीवों को स्वर्ग-नरकादि गतियों में ले जानेवाला नहीं है, उसीप्रकार कर्म के कारण जीव को स्वर्ग-नरकादि कहना भी उपचार से ही है, वास्तव में चारों गतियाँ तो जीव का औदयिकभाव है, वह जीव का स्वतत्त्व है—जड़ के कारण नहीं है। यहाँ तो उन औदयिकभावों से भी पार ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव को स्वतत्त्वरूप से बतलाना है; उसे जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। अभी तो जो जीव पर्याय का भी पर से होना मानता है, वह पर का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली निरपेक्ष तत्त्व को कहाँ से दृष्टि में लेगा? अज्ञानी जीव शुद्ध ज्ञानानंद जल का तो अनुभव नहीं करता, किन्तु आत्मा का अशुद्धरूप से ही अनुभव करता है, इसलिये उसकी दृष्टि कर्मों पर ही रहती है; इसीलिये उसे ''पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित'' कहा है।

क्षणिक विकारी भावों को ही आत्मा मानकर जो अटक जाता है, वह जीव व्यवहारमग्न है; ''व्यवहार में मग्न'' कहो या ''पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित'' कहो—दोनों समान ही हैं। यहाँ आचार्य-भगवान समझाते हैं कि—भाई! तेरा त्रिकाल विद्यमान स्वरूप क्या है, उसे पहिचान; उसे पहिचानने से ही सम्यग्दर्शन होकर तेरे भवभ्रमण का अंत आयेगा। इसके अतिरिक्त बाह्य ज्ञातृत्व कहीं सच्ची विद्या नहीं है—उससे कल्याण नहीं है; त्रिकाली विद्यमान ऐसे आत्मतत्त्व को जानना ही सच्ची विद्या है; उस विद्या से मुक्ति होती है। शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय करके आत्मा के परमार्थ स्वरूप को देखते हैं, वे ही आत्मस्वभाव का सम्यक् अवलोकन करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं; जो आत्मा के परमार्थ स्वरूप को नहीं देखते, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व-अचिंत्य-महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन पलट जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मण्डप लग गया, उसके आत्मा में सिद्ध भगवान का संदेश आ गया... उसकी अनंत भव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई और अल्पकाल में मुक्ति होने का निःशंक विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व-परम-अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट होने के लिए अंतर के चिदानंद परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी

का अवलम्बन है ही नहीं। स्थूल दृष्टिवान जीवों ने सम्यग्दर्शन को पहिचाने बिना बाह्य में सम्यग्दर्शन मान लिया है; यहाँ आचार्यदेव ने शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन कराके सम्यग्दर्शन का यथार्थ उपाय बतलाया है। इस उपाय से जो सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसके अल्पकाल में भव का अभाव हो जाता है।

शांति का स्थान

देखो भाई! शांति आत्मा के स्वभाव में है; आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शांति से भरपूर है, उसकी प्रतीति करके उसके अवलम्बन से ही शांति का अनुभव होता है, इसके अतिरिक्त बाह्य में लाखों प्रयत्न करने पर भी जीव को सच्ची शांति नहीं मिलती, क्योंकि आत्मा की शांति आत्मा से दूर नहीं है; शांति का स्थान आत्मा में ही है। ज्ञानी तो ऐसा जानते हैं; इसलिये निज स्वभाव का बहुमान चूककर उन्हें पर का बहुमान नहीं आता। और अज्ञानी, स्वभाव की शांति को नहीं जानता; इसलिये बाह्य पदार्थों की महिमा में वह ऐसा एकाकार हो जाता है कि मानों वहीं आत्मा की शांति भरी हो, और आत्मा में तो मानों कुछ हो ही नहीं! किन्तु भाई! तेरी शांति तो यहाँ है या वहाँ? जहाँ शांति का समुद्र भरा है—ऐसे अपने स्वरूप को भूलकर मात्र पर के बहुमान में रुक जाये और उसी में संतोष मान ले तो उसे आत्मा की शांति का किंचित्मात्र लाभ नहीं होगा, और उसका संसार-परिभ्रमण दूर नहीं होगा। इसलिये यहाँ तो आत्मा की अपूर्व समझ की बात को मुख्य रखकर ही सारी बात कही है। आत्मा की समझ ही शांति का मूल है।

[—मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

आत्मा कौन है और

कैसे प्राप्त होता है ?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

लेखांक १५] **[अंक १०८ से आगे**

- ''प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?''—ऐसा प्रश्न जिज्ञासु शिष्य करता है।
- उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि ''आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।''
- ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है; उसमें से २३ नयों के प्रवचन अभीतक दिये जा चुके हैं आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

(२४) ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन

आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है; ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से देखने पर वह आत्मद्रव्य, भारी ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है।

जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है ? इसका स्वरूप क्या है ? उसका यह उत्तर चल रहा है। आत्मा चैतन्यवस्तु है, उसमें अनंत धर्म हैं। वास्तव में आत्मा स्वयं अपने में है और पर, पर में है; परपदार्थ आत्मा में नहीं जा जाते; परन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव इतना विशाल है कि उसमें समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं। जिसप्रकार अग्नि के भारी समूह में अनेक जाति की लकड़ियाँ आदि जल रहे हों, वहाँ अग्नि की एक भारी ज्वाला ही दिखाई देती है; उसीप्रकार आत्मा की ज्ञानज्योति का ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञेयों को जान लेती है; उस अपेक्षा से ज्ञान मानों समस्त ज्ञेयों के साथ अद्वैत हो!—ऐसा कहा है। अकेला ज्ञान मानों स्वयं अनंत पदार्थों रूप होता हो—ऐसा उसका समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव है। यह स्वभाव किन्हीं निमित्तों के या राग के कारण नहीं है; जगत में केवली भगवान आदि हैं; इसलिये इस आत्मा में उनका ज्ञान करने का धर्म है—ऐसा नहीं है। ज्ञान करनेा का धर्म तो अपने कारण से ही है और ज्ञेय उनके अपने कारण से हैं; कोई किसी के कारण नहीं है।

ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ कभी एकमेक नहीं हो जाते; परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा में एक ऐसा स्व-पर प्रकाशक धर्म है कि लोकालोक के समस्त ज्ञेय मानो ज्ञान में अंकित हो गये हों—ऐसा ज्ञात होता है। पहले २०० वीं गाथा में भी कहा था कि "एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनंत, भूत-वर्तमान-भविष्य के विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाध स्वभावी और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को शुद्ध आत्मा एक क्षण में इसप्रकार प्रत्यक्ष करता है मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में अंकित हो गये हों... चित्रित हो गये हों... दब गये हों... खच गये हों... डूब गये हों... प्रतिबिम्बत हो गये हों!"—ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध के कारण ज्ञान और ज्ञेय मानों एकमेक हों—ऐसे प्रतिभासित होते हैं; तथापि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव की एकता को छोड़कर परज्ञेयों के साथ एकमेक नहीं हो गया है। ज्ञान की ही ऐसी विशेषता है कि ज्ञेय उसमें ज्ञात होते हैं; परन्तु कहीं ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। भगवान की वाणी थी; इसलिये उसके कारण आत्मा को ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; सामने साक्षात् तीर्थंकर भगवान या उनकी प्रतिमा विराजमान थी, इसलिये उस ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; सम्मेदशिखर या गिरनारजी तीर्थ थे, इसलिये उन ज्ञेयों के कारण उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है; और उन-उन प्रकार के ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा में नहीं होता—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ही अपना जानने का स्वभाव है, इसलिये वह जाननेरूप परिणमित होता है; वहाँ स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होने से, आत्मा मानों उन ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो—ऐसा ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतनय से भासित होता है; ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है। इस धर्म से देखें तो भी अनंत धर्मवाला शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही अंतर में दिखाई देता है। ऐसा चैतन्यस्वभाव ख्याल में लिये बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान के बिना चाहे जितने व्रत, तप, आदि के शुभभाव करे, तथापि उससे जीव का किंचित् हित नहीं होता। शुभभावों से सांसारिक संयोगों की प्राप्ति होती है, परन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव क्या ?—ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त इस जड़ शरीर-मन-वाणी को लक्ष में से छोड़ दो और अंतर की शुभ-अशुभ वृत्तियों को भी लक्ष में से छोड़ दो; उन सबसे पार अंतर में अकेले ज्ञान को लक्ष में लो; वह ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ऐसा आत्मा वास्तव में परज्ञेयों से पृथक् है, परन्तु उसके ज्ञान में परज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिये ज्ञान और ज्ञेय का अद्वैत हो—ऐसा कहा जाता है। जिसप्रकार कंडे, लकड़ी इत्यादि अनेकप्रकार के ईंधन को जलानेवाली अग्नि एक ही मालूम

होती है; उसमें लकड़ी-कंडे अलग-अलग दिखाई नहीं देते; उसीप्रकार ज्ञाता स्वभाव द्वारा आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में परिणत होकर अनंत ज्ञेय पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित होता है, वहाँ मानों समस्त ज्ञेय पदार्थोंरूप से एक ज्ञान ही परिणमित हो गया हो—ऐसा ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से प्रतिभासित होता है। देखो, यहाँ ज्ञान और ज्ञेय का एकत्व सिद्ध नहीं करना है, परन्तु ज्ञान सामर्थ्य में समस्त ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं—ऐसा सिद्ध करके, आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाना है। परज्ञेय तो त्रिकाल पर में ही रहते हैं; परन्तु ज्ञान में ज्ञात होने की अपेक्षा से उन्हें ज्ञान के साथ अद्वैत कहकर ज्ञान का सामर्थ्य बतलाया है। अनंत सिद्ध आदि ज्ञेय हैं, उनके कारण उनका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञान का ही ऐसा दिव्य सामर्थ्य है, इसलिये ज्ञान स्वयं ही वैसे ज्ञेयों के प्रतिभासरूप से परिणमित होता है, ज्ञान की ही इतनी विशालता है कि समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप से स्वयं एक ही भासित होता है।

जिसप्रकार अग्नि का ऐसा स्वभाव है कि रुई की हजारों गांठों को और लकड़ियों के ढेरों को जलाकर स्वयं एक ज्वालारूप परिणमित हो जाती है; उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि एक क्षण में समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। दर्पण तो स्थूल वस्तु है; उसमें अधिक दूर की, भूत-भविष्य की या पीछे की वस्तुएँ ज्ञात नहीं होतीं; दर्पण तो जड़ वस्तु है, वह कुछ नहीं जानता; परन्तु ज्ञान का स्वभाव तो सबकुछ जानने का है; दूर का और भूत-भविष्य का सबकुछ ज्ञान जानता ही है। ज्ञान अपने सन्मुख रहकर सर्व को जान लेने के स्वभाववाला है।

वस्तु का स्वभाव क्या है, उसे पहिचानना चाहिए। देखो, विशाल लहराते हुए समुद्र में लाखों मन के जहाज तैरते हैं और लकड़ी का एक छोटे से छोटा टुकड़ा भी तैरता है। लकड़ी लाख मन वजन की होने पर भी पानी में तैरती है और एक रत्तीभर लोहा भी पानी में डूब जाता है; उसका कारण ?—ऐसा ही उन पदार्थों का स्वभाव है। उनके उस स्वभाव को किसने जाना ?—किन्हीं इन्द्रियों से वह स्वभाव ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होता है। दूसरों के स्वभाव को भी ज्ञान जानता है, इसलिये ज्ञान का जानने का स्वभाव है। परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है; उसे पर की महिमा भासित होती है, परन्तु पर को जाननेवाला अपना ज्ञान है, अपनी महिमा उसे भासित नहीं होती। यदि ज्ञान की महत्ता भासित हो तो संसार-समुद्र से पार हो जाए, क्योंकि ज्ञान का तैरने का स्वभाव है। अनंत ज्ञेयों से परिपूर्ण विश्व-समुद्र के बीच में गिरने पर भी मेरे ज्ञान

का स्वभाव उनसे पृथक् रहकर तैरने का है; मेरे ज्ञान का स्वभाव जानने का है, परन्तु कहीं पर में अहंपना करके अटकने का मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है। समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी, उन ज्ञेयों से पृथक् का पृथक् रहे—ऐसा मेरा स्वभाव है।—इसप्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन हो, और भवसमुद्र से पार हो जाये।

आत्मा का जानने का स्वभाव है तो वह किसे न जानेगा? जिसका स्वभाव जानने का हो, वह परिपूर्ण ही जानता है; उसके ज्ञानसामर्थ्य में मर्यादा नहीं होती। अपूर्ण जाने तो उसके परिणमन में कचास है परन्तु स्वभावसामर्थ्य में कचास नहीं है। यह बात साधक जीव के लिये है; क्योंकि नय साधक के ही होते हैं। अपनी पर्याय में कचास होने पर भी साधक जीव अंतर्मुख दृष्टि द्वारा अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेता है।

आत्मा का स्वभाव सर्व को जानने का है; परन्तु किसी पर को अपना बनाए—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जगत में नरकादि गति के दूसरे जीवों के दु:ख की उसे खबर पड़ती है परन्तु अपने ज्ञान के साथ कहीं उन जीवों के दु:ख का वेदन उसे नहीं होता। जैसे—किसी को बिच्छू ने काटा हो तो उसे कैसा दु:ख होता है, वह दूसरे लोग जानते हैं; परन्तु उन देखनेवाले मनुष्यों को कहीं वैसे दु:ख का वेदन नहीं होता। उसीप्रकार समस्त पदार्थों को जानने में कहीं भी राग-द्वेष करने का आत्मा का स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी मानते हैं कि हमारा अमुक वस्तु के बिना नहीं चल सकता; परन्तु ज्ञानी उन्हें समझाते हैं कि अरे भाई! तू तो ज्ञान है, तूने अपने ज्ञान के अतिरिक्त अनादिकाल से परपदार्थों के बिना ही चलाया है; समस्त आत्माओं का परवस्तु के बिना ही चल रहा है परन्तु ज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं चलता। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा का ही अभाव हो जाए। पर्याय में अल्प राग-द्वेष होने पर भी "मैं तो ज्ञान हूँ"—ऐसा जिसने निर्णय किया, वह जीव आराधक हुआ; अब, ज्ञान में एकाग्रता के बल से बीच में से बाधकभाव तो निकल जायेगा और ज्ञान परिपूर्ण विकसित हो जायेगा।

अज्ञानी लोग तो बाह्य में ही "मुझे यह खपेगा (काम में आयेगा) और यह नहीं खप सकता"—इसप्रकार परद्रव्य के अभिमान में रुक गये हैं; परन्तु अंतर में "मैं ज्ञान हूँ"—इसकी उन्हें खबर नहीं है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ; मुझे ज्ञान करने के लिये सर्व पदार्थ ज्ञेयरूप से खपते हैं; परन्तु कोई भी परज्ञेय (-ज्ञान में ज्ञात होने योग्य होने पर भी) मुझ में नहीं

खपता मेरे। ज्ञानसामर्थ्य में समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से भले ज्ञात हों, परन्तु किसी भी परज्ञेय को मैं अपने रूप से स्वीकार नहीं करता। अरे जीव! एक बार प्रतीति तो कर कि मेरा ज्ञानस्वभाव है; मुझमें सर्व को जान लेने का सामर्थ्य है; परज्ञेयों के अवलम्बन बिना अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही मैं समस्त लोकालोक का ज्ञाता हूँ।—ऐसे ज्ञायकपने की प्रतीति करे तो सारे जगत में उदासीन होकर ज्ञान अंतर में स्थिर हो जाए।

लोकालोक के कारण जीव को उसका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है; यदि लोकालोक के कारण उसका ज्ञान होता हो तो समस्त जीवों को लोकालोक का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि लोकालोक तो सदैव है; इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य से ही ज्ञान होता है। ऐसे निज स्वभाव की प्रतीति करके, उस एक ज्ञानस्वभाव की भावना में ही व्रतादि सबका समावेश हो जाता है। बारह भावनाएँ तो व्यवहार से हैं; वास्तव में उन बारह भावनाओं का आधार तो आत्मा है; आत्मा के आश्रय से ही सच्ची बारह भावनाएँ हैं; बारह प्रकार के भेद के लक्ष से तो विकल्पों की उत्पत्ति होती है। इसलिये किसी भी नय से आत्मा के धर्म द्वारा धर्मी ऐसे अखण्ड आत्मा को दृष्टि में लेकर उसके अवलम्बन का ही तात्पर्य है।

यहाँ २४ वें ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

केवलज्ञान का स्वीकार करने वाले जीव को

अनंत भव की शंका नहीं रहती

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय चैत्र शुक्ला १ के दिन
दोपहर के प्रवचन से (२)]

अहो! केवलज्ञान क्या है? उसकी महिमा की जगत् को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है... जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनंत भव की शंका नहीं है, और जिसे अनंत भव की शंका है, उसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिसप्रकार केवली भगवान को भव नहीं हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाले को भव की शंका नहीं है। केवलज्ञान की प्रतीति और भव की शंका—यह दोनों एकसाथ नहीं रह सकते... ज्ञानी निःशंकतापूर्वक कहते हैं कि—जिसने भवरहित ऐसे केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनंत भव होते ही नहीं; केवली भगवान ने उसके अनंत भव देखे ही नहीं।

श्री सीमंधर भगवान वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में केवलज्ञानसहित बिराजमान हैं; वहाँ दूसरे भी अनेक केवली भगवन्त विचर रहे हैं। केवली भगवान का आत्मा, राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञायकबिम्ब हो गया है।—ऐसे केवली भगवान को जिसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया, उसे ज्ञायकभाव प्रतीति में आ गया; अब मेरे अनन्त भव होंगे—ऐसी शंका उसे होती ही नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वभाव में भव नहीं है। अपने ज्ञान में केवली भगवान का स्वीकार करे और अनंत भव की शंका भी रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनंतभव की शंका नहीं है, और जिसे अनंत भव की शंका है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिसप्रकार केवलज्ञानी भगवान के भव नहीं हैं, उसीप्रकार उस केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाले को भी भव की शंका नहीं रहती।

अहो! केवलज्ञान क्या है—उसकी महिमा की जगत् को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है। जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया, इसलिये साधारणतः तो 'केवली भगवान हैं'—ऐसा कहते हैं, परन्तु केवलज्ञानी कैसे होते हैं, वह जानकर निर्णय नहीं करते। हे भाई! ''केवलज्ञानी हैं''—ऐसा तू कहता है, परन्तु वे कहाँ हैं? सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, इसलिये उनका

केवलज्ञान तो वहाँ रहा, परन्तु तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया है ? यदि तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया हो तो तुझे अनंत भव की शंका हो ही नहीं सकती। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही केवलज्ञान का निर्णय होता है; राग के अवलम्बन से उसका निर्णय नहीं होता। कहीं शरीर में, राग में केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य नहीं है, परन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में ही केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य है—ऐसी जिसने प्रतीति की, उसे श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ और भव की शंका दूर हो गई। ''केवली भगवान ने मेरे अनंत भव देखे होंगे''—ऐसी शंका मिथ्यादृष्टि को ही होती है, सम्यक्त्वी को कदापि ऐसी शंका नहीं होती। ''मैं अनंत संसार में परिभ्रमण करूँगा''—ऐसी जिसे शंका है, उसे ज्ञायकभाव की—केवलज्ञान की प्रतीति नहीं है; वह अनंतभव की शंकावाला जीव केवलज्ञान को नहीं देखता किन्तु कर्म को ही देखता है। जो भवरहित केवली भगवान को देखता है, उसे तो—जिसमें भव नहीं ऐसा—अपना ज्ञायकस्वभाव प्रतीति में आ गया है, उसे अब अनंत भव होते ही नहीं और केवली भगवान ने उसके अनंत भव देखे ही नहीं; और उसे स्वयं को भी अनंतभव की शंका नहीं रहती।

साधु नाम धारण करके भी यदि कोई ऐसा कहे कि—'' अभी हमें भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं हो सकता और अनंतभव की शंका दूर नहीं होती''—तो वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसने केवली भगवान को नहीं माना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले को ही केवलज्ञान का स्वीकार होता है। कर्म के ऊपर जिसकी दृष्टि है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं होता।—इस प्रकार भूतार्थ स्वभाव के आश्रय बिना केवली भगवान की प्रतीति नहीं होती। जगत् में केवलज्ञानी भगवान हैं—ऐसा स्वीकार करनेवाले ने आत्मा में केवलज्ञान के सामर्थ्य की स्वीकार किया है; केवलज्ञान होने का सामर्थ्य अपने में है, उस सामर्थ्य के सन्मुख होकर केवलज्ञान का यथार्थ स्वीकार होता है; इसके अतिरिक्त केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।

कोई कुतर्की ऐसा कहे कि हम चाहे जितना पुरुषार्थ करें, परन्तु यदि केवली भगवान ने अनंतभव देखे होंगे तो उनमें से एक भी भव कम नहीं हो सकता;—तो ज्ञानी निःशंकतापूर्वक उसका अस्वीकार करके कहते हैं कि अरे मूढ़! जिसने केवलज्ञान का निर्णय किया है, उसके अनंतभव होते ही नहीं; जिसने भव-रहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनंतभव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं।

केवलज्ञान में सब प्रतिभासित है; तीनकाल में कब क्या हुआ और कब क्या होगा—वह

सब केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है। जो केवलज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें किंचित्मात्र फेरफार नहीं हो सकता; परन्तु जिसने केवलज्ञान के ऐसे अचिन्त्य सामर्थ्य का निर्णय किया, उसकी अल्पकाल में ही मुक्ति होनेवाली है—ऐसा भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है।

जिसने केवलज्ञान का स्वीकार किया, उसे आत्मा के परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य की खबर है; इसलिये उसकी दृष्टि स्वभाव पर है; वह अपने को अल्पज्ञ या अशुद्धता जितना नहीं मानता, परन्तु पूर्ण ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर साधकभावरूप परिणमित होता है। केवली भगवान द्रव्य से और पर्याय से पूर्ण ज्ञायक हैं, और परमार्थ से मेरा स्वभाव भी वैसा ही ज्ञायक है; मुझ में भी केवलज्ञान की सामर्थ्य है—इसप्रकार अज्ञानी जीव प्रतीति नहीं करता; वह तो मात्र व्यवहार और राग की प्रतीति करके अशुद्धतारूप से ही अपना अनुभव करता है। जिसे अपने ज्ञायकभाव का भान नहीं है और अशुद्धरूप से ही अपना अनुभवन करता है, वह जीव वास्तव में केवलज्ञानी को नहीं देखता परन्तु कर्म और विकार को ही देखता है, उसे संसार की ही रुचि है।—ऐसे जीव को भव की शंका का वेदन दूर नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन बिना केवलज्ञान की प्रतीति भी नहीं होती और भव की शंका भी दूर नहीं होती। भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन लेकर जहाँ केवलज्ञान का निर्णय किया, वहाँ भव की शंका का स्वप्न में भी वेदन नहीं होता; क्योंकि स्वभाव में भव नहीं हैं। जहाँ अनंत भव की शंका है, वहाँ स्वभाव की ही शंका है। जहाँ स्वभाव की नि:शंकता हुई, वहाँ भव की शंका नहीं रहती। केवलज्ञान की प्रतीति और अनंत भव की शंका—यह दोनों एकसाथ नहीं रह सकते।

''अपना आत्मा भव्य है या अभव्य—यह तो भगवान जाने!''—ऐसा जो कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं; उन्होंने भगवान को माना ही नहीं; भगवान भी ऐसा ही देखते हैं कि यह जीव मिथ्यादृष्टि है। मैं तो अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला भव्य ही हूँ, अभव्य नहीं हूँ,—इतनी नि:शंकता भी जिसे अभी नहीं हुई है; अनंतानंत काल में कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा अभव्य होने का जिसे संदेह वर्तता है, वह जीव भवरहित केवली भगवान की प्रतीति का पुरुषार्थ कहाँ से लायेगा ?—उसमें तो धर्म प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं है; भवरहित ऐसे केवली भगवान की वाणी कैसी होती है—उसका भी वह निर्णय नहीं कर सकेगा। कोई जीव ऐसा माने कि राग से धर्म होगा; अथवा देह की क्रिया से धर्म होना माने, और कहे कि मैं केवली भगवान का भक्त हूँ;—तो वास्तव में वह जीव, केवली भगवान का भक्त नहीं है, वह केवली भगवान को मानता ही

नहीं है, वह तो व्यवहारमूढ़ है; वह अज्ञानी जीव मात्र विकार और व्यवहार का ही अस्तित्व स्वीकार करता है, परन्तु परमार्थरूप ज्ञायकभाव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; इसलिये वह व्यवहार से ही विमोहित चित्तवाला मिथ्यादृष्टि है। भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करता है, वही सम्यक्दृष्टि है; जिसने अपने भूतार्थस्वभाव का अवलंबन लेकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसी ने वास्तव में केवली भगवान को माना है और वही भगवान का सच्चा भक्त है। भगवान के ऐसे भक्त को भव की शंका नहीं रहती, अल्प काल में भव का नाश करके वह स्वयं भी भगवान हो जाता है।

....वह जैन नहीं है

जो आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव का विकार से भिन्नरूप अनुभवन करता है, वह सम्यग्दृष्टि ही सच्चा जैन है और जो अपने आत्मा का रागयुक्त-अशुद्ध अनुभवन करता है तथा राग से धर्म होना मानता है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं है; इसलिये भगवान उसे जैन नहीं कहते। जो जीव शुद्धदृष्टि से अपने आत्मा को शुद्ध देखता है, वह जैनशासन को देखता है; इसलिये वही जैन है। जो जीव शुद्ध आत्मा को नहीं देखता और अकेले राग को ही देखता है—वह जैनशासन को नहीं देखता, इसलिये वह जैन नहीं है।

करना क्या ?

—अनेक जीव ऐसा पूछते हैं कि हमें धर्म करने की जिज्ञासा तो है, हमें आत्मकल्याण करने की भावना तो है; लेकिन उसके लिये करना क्या ?—इसकी कोई सूझ नहीं पड़ती।

—ऐसे जिज्ञासु जीवों को, ''धर्म करने के लिये क्या करना'' वह यहाँ पूज्य गुरुदेव सरल रीति से समझाते हैं—

—देखो भाई ! जगत में निम्नानुसार चार प्रकार की वस्तुएँ हैं—

(१) संयोगी परवस्तुएँ (आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ)

(२) विकारी भाव (आत्मा को होने वाली शुभाशुभ वृत्तियाँ)

(३) क्षणिक पर्याय (पर को तथा राग को जाननेवाला ज्ञान इत्यादि)

(४) ध्रुव ज्ञानस्वभावी वस्तु (त्रिकाल-स्थायी शुद्ध आत्मा)

—इसप्रकार चार बोलों का अस्तित्व पहले निश्चित करो कि जगत में यह चार प्रकार हैं या नहीं ? इन चार प्रकारों में सारा जगत आ जाता है।

—ज्ञान में उन चार प्रकारों का अस्तित्व भासित होने के पश्चात् अंतर में विचार करो कि उन चार प्रकार की वस्तुओं में से किसकी ओर देखने से कल्याण होगा ?—किसके अवलम्बन से शांति होगी ?—कौन-सी वस्तु आत्मकल्याण का आधार हो सकती है ?

—उपरोक्तानुसार गंभीर विचार करके, फिर निर्णय करो कि उन चार प्रकार के पदार्थों में से त्रिकाल स्थायी ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही कल्याण होगा, उसके समक्ष देखने से ही शांति प्रगट होगी, वही आत्मकल्याण का आधार हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय से शांति या कल्याण नहीं हो सकता। क्योंकि—

(१) आत्मा के अतिरिक्त संयोगी परवस्तुएँ तो अपने से पृथक् हैं, इसलिये उनमें से आत्मा का कल्याण नहीं आ सकता;

(२) शुभ या अशुभ विकारी वृत्तियाँ, क्षणिक और नाशवंत हैं तथा वे स्वयं अशांतिरूप हैं; इसलिये आत्मा की शांति के लिये शरणभूत हो सकें—ऐसा सामर्थ्य उनमें नहीं है;

(३) ज्ञानादि की क्षणिक पर्याय भी नवीन-नवीन बदलती रहती है, वह स्वयं स्थिर नहीं रहती; इसलिये उस पर्याय की ओर देखने से भी दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती;

(४) ध्रुव ज्ञानस्वभावी आत्मा सदैव ऐसे का ऐसा शक्तिरूप से परिपूर्ण विराजमान है; वही आश्रयभूत और शरणभूत हो सकता है; और ऐसा जो शुद्ध आत्मा है, वह अपने में कोई भिन्न वस्तु नहीं है, परन्तु स्वतः स्वयं ही है।

—इसप्रकार दृढ़ निर्णय करके, उस त्रिकाली आत्मस्वभाव की ही अंतर में महिमा करो... उसकी रुचि करो... उसका मंथन करो... और उसके सन्मुख होकर उसका अवलम्बन करो। उस परम महिमावंत वस्तु के अवलम्बन से ही शांति है; उसी के अवलम्बन से धर्म है; उसी के अवलम्बन से कल्याण है, उसी के अवलम्बन से सुख है; उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; उसी के अवलम्बन से मोक्ष है; वही एक शरणभूत है।

—इसप्रकार धर्म करने के लिये जिज्ञासु को क्या करना चाहिए, वह संक्षेप में और बिलकुल सरल रीति से बतलाया है।

अनिह्नव-विनय का स्वरूप

[ज्ञानविनय के आठ प्रकार हैं, उन में अनिह्नव नाम का एक प्रकार आता है। श्री मूलाचार ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में ''अनिह्नव-विनय'' की व्याख्या आती है, वह जिज्ञासुओं को उपयोगी होने से यहाँ दी गई है। मूलाचार की टीका श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने की है।]

कुलवयसीलविहूणे, सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं।
कुलवयसीलमहल्ले, णिण्हवदोसो दु जप्पंतो॥
कुलव्रतशीलवहीना; सूत्रार्थे सम्यगवगम्य।
कुलव्रतशीलमहत्तो, निह्नवदोषस्तु जल्पन्तः॥

अर्थः—कुल=गुरुसंतति, गुरु परम्परा; व्रत=अहिंसा सत्यादिक पंचमहाव्रत; शील=जिनसे व्रतों का रक्षण होता है, ऐसे तपश्चरणादिक आचार। जिसके व्रतादि का अभाव है अर्थात् जो व्रतादि का पालन करनेवाला नहीं है तथा उनमें दोष लगाने वाला है—ऐसे साधु को कुल-व्रत-

शीलविहीन समझना चाहिये। मठादिकों का पालन करने से अथवा अज्ञानादि से गुरु सदोष होते हैं; ऐसे गुरु के ज्ञानी तथा तपस्वी शिष्य को भी कुल हीन कहना चाहिए। अथवा (-उत्कृष्ट अपेक्षा से) तीर्थंकर गणधर तथा सात ऋद्धि सम्पन्न ऋषियों से भिन्न मुनियों को कुल-व्रत-शीलविहीन मुनियों के पास से सम्यक्-शास्त्र पढ़कर यदि कोई साधु कुल-व्रत-शील सम्पन्न मुनियों को बतलाता है—अर्थात् ''मैंने कुल-व्रत-शीलवान महा मुनि के पास से सम्यक् शास्त्रज्ञान प्राप्त किया है''—ऐसा कहता है तो वह साधु निह्नवदोष से दूषित है। जो साधु अपने में गर्व रखता है (गर्व युक्त होकर शास्त्र का और गुरु का लोप करता है), वह साधु शास्त्र का निह्नव तथा गुरु का निह्नव करता है; ऐसे अकार्य से उसे महान कर्मबंध होता है। ''मैं जिनेन्द्र प्रणीत शास्त्र सुनकर या पढ़कर ज्ञानी नहीं हुआ परन्तु नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य मीमांसक-बौद्ध इत्यादि विद्वानों के पास से मुझे बोध प्राप्त हुआ है''—ऐसा जो लोकपूजादि के हेतु से कहता है, तथा निर्ग्रंथ यतियों के पास से अध्ययन करके लोकपूजादि हेतु से जो ऐसा कहता है कि 'मैं ब्राह्मणादिक मिथ्यात्वियों के पास पड़ा हूँ''—वह तब से निह्नवदोष के कारण मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए। सामान्य यातियों के पास शास्त्र पढ़कर ऐसा कहना कि ''मैं तीर्थंकरादि के पास पड़ा हूँ''—वह भी निह्नव दोष है।

[जिनके पास से अपने को ज्ञान प्राप्त हुआ है, उन गुरु की तथा शास्त्र की यथार्थ विनय करना, और उपरोक्त किसी भी प्रकार के निह्नव दोष न लगने देना, उसका नाम अनिह्नव-विनय है।]

[—देखिये, मूलाचार:संस्कृत आवृत्ति गाथा ८७ तथा ओका पृष्ठ २३७; हिन्दी आवृत्ति गाथा १०५ तथा टीका पृष्ठ १७२]

मानस्तंभ

(१) सोनगढ़ का मानस्तंभ

सोनगढ़ में जो मानस्तंभ है, वह ६३ फुट ऊँचा है; यह पूरा मानस्तंभ संगमरमर का बना है; उसमें ऊपर और नीचे चारों दिशाओं में श्री सीमंधर भगवान विराजमान हैं, और नींच की तीन पीठिकाओं में जैनधर्म के ऐतिहासिक चित्र अंकित हैं। इस मानस्तंभ में श्री सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के मंगलकारी हस्त से वीर सं. २४७९ चैत्र शुक्ल १० को हुई थी।

(२) मानस्तंभ क्या है और कहाँ-कहाँ हैं ?

मानस्तंभ कहीं कीर्तिस्तंभ नहीं है परन्तु जैनधर्म का स्तंभ है। कीर्तिस्तंभ तो लौकिक वस्तु है और मानस्तंभ जिनेन्द्रधर्म का वैभव बतलानेवाला धर्मस्तंभ है; उसे ''धर्मवैभव'' भी कहा जाता है, और इन्द्रादि जीव उसका सन्मान करते हैं, इसलिये उसे ''इन्द्र-ध्वज'' भी कहा जाता है।

इस मनुष्य-लोक में ही महाविदेहक्षेत्र है; वहाँ वर्तमान में सीमंधरादि तीर्थंकर भगवन्त विचर रहे हैं; उनके समवशरण में चारों ओर चार मानस्तंभ हैं। मानस्तंभ को देखते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिमान गल जाता है।

इस मध्यलोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं; उनमें यहाँ से आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है; वहाँ शाश्वत् जिनमंदिर और मानस्तंभ हैं। त्रिलोकसार में उसका ''धर्मवैभव'' रूप से वर्णन किया है।

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवलोक में भी शाश्वत् मानस्तंभ हैं; उन मानस्तंभों में साँकलों द्वारा लटकते हुए पिटारों में तीर्थंकरों के आभूषण रहते हैं।

सौधर्म स्वर्ग के मानस्तंभ में भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

ईशान स्वर्ग के मानस्तंभ में ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

सनत्कुमार स्वर्ग के मानस्तंभ में पूर्व विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तंभ में पश्चिम विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

—इन मानस्तंभों में रहनेवाले आभरण लेकर इन्द्र, तीर्थंकर भगवान को गृहस्थदशा में भेजता है।

और इस पृथ्वी के नीचे भवनवासी और व्यंतरदेवों के निवास हैं, वहाँ भी शाश्वत जिनमंदिर हैं और उनके सामने शाश्वत् मानस्तंभ हैं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान में भारत में भी श्री सम्मेदशिखर जी, महावीर जी, पावागढ़, अजमेर, जयपुर संग्रहस्थान, तारंगा, आरा, चित्तौड़, दक्षिण कन्नड़, मूलबिद्री, कारकल, श्रवणबेल गोला, मैसूर—आदि स्थानों पर भी मानस्तंभ हैं। ●●●

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि पुण्यक्रिया करते-करते कल्याण हो जायेगा, लेकिन उनकी दृष्टि ही विपरीत है। शास्त्रकार कहते हैं कि—भाई! तुम्हारा शुभभाव तो ठंडे-गरम बुखार की भाँति क्षणिक है, वह नित्यस्थायी नहीं रहेगा किन्तु शुभ बदलकर अशुभ हो जायेगा। पुण्य-पाप की वृत्ति रहित ज्ञानानन्दस्वरूप ध्रुव रहता है; उस ध्रुव चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करना, वह धर्म है।

कल्याण के लिये कहाँ जाना ?

हे भाई! किसी पर के सन्मुख देखने से तो तेरा कल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि तेरा कल्याण पर में नहीं है; और तेरे अपने आत्मा में भी राग के या भेद के सन्मुख देखने से तेरा कल्याण नहीं होगा। सारा आत्मा एक समय में जैसा परिपूर्ण है, वैसा ही अखण्ड प्रतीति में लेकर उसके सन्मुख होना, वही कल्याण का मूल है। अपनी शुद्धनयरूपी आँख से अन्तर में भगवान कारणपरमात्मा को देखना और उसके सन्मुख होकर एकाग्रता करना ही कल्याण है।

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व अचिंत्य महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है! जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मंडप लग गया... उसके आत्मा में सिद्ध भगवान का सन्देश आ गया... उसकी अनंत भव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई... और अल्पकाल में मुक्ति होने का निःसन्देह विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व... परम... अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर के चिदानन्द परमात्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं। जो इस उपाय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसके अल्पकाल में भव का अभाव हो जाता है।

—ऐसे सम्यग्दर्शनधारी संतों की जगत में बलिहारी है!

मोरबी में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर

पू. गुरुदेव के मंगलहस्त से

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब

(१)	श्री महावीर भगवान (मूलनायक)	मोरबी
(२)	श्री मल्लिनाथ भगवान	मोरबी
(३)	श्री पार्श्वनाथ भगवान	मोरबी
(४)	श्री सीमंधर भगवान	मोरबी
(५)	श्री बाहु भगवान	मोरबी
(६)	श्री चन्द्रबाहु भगवान	मोरबी
(७)	श्री महावीर भगवान (विधिनायक)	मोरबी
(८)	श्री महावीर भगवान	बम्बई
(९)	श्री महावीर भगवान	मथुरा
(१०)	श्री पार्श्वनाथ भगवान	वडिया

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।